International Journal of Enhanced Research in Educational Development (IJERED)
ISSN: 2320-8708, Vol. 14 Issue 5, September-October, 2026

कारागृह से कर्म मुक्ति तक – मानतुंग की अंतर्यात्रा

स्वस्ति श्री स्वामी डॉ. जयेन्द्र कीर्ति (उज्जैन)[1], डॉ. आचार्य प्रणाम सागर जी[2]

[1]प्राद्योगिक विष्वविद्यालय जयपुर म.प्र.
[2]भक्तामर कलष तीर्थ, भांडगांव

सारांश

आचार्य मानतुंग की जीवनयात्रा केवल बाह्य संघर्षों और विपरीत परिस्थितियों की कथा नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी अद्भुत आध्यात्मिक अंतर्यात्रा है, जिसमें कारागृह की अंधकारपूर्ण सीमाएँ आत्मजागरण के प्रकाश में परिवर्तित हो जाती हैं। सांसारिक बंधनों के बीच रहते हुए भी मनुष्य किस प्रकार अपने भीतर के बंधनों को पहचानकर उनसे मुक्त होने की दिशा में अग्रसर हो सकता है–मानतुंग का जीवन इसका प्रेरणादायी उदाहरण प्रस्तुत करता है।

कारागृह जहाँ शरीर को सीमित करता है, वहीं आत्मा की स्वतंत्रता को सीमित नहीं कर सकता। बाहरी परिस्थितियाँ कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हों, यदि चेतना भीतर की ओर उन्मुख हो जाए तो वही बंधन साधना का माध्यम बन सकते हैं। मानतुंग की अंतर्यात्रा इसी सत्य को उद्घाटित करती है।

उनके जीवन में आने वाली विपत्तियाँ केवल दुःख के प्रसंग नहीं थीं, वे आत्मचिंतन, वैराग्य और कर्म–सिद्धान्त की अनुभूति के सोपान बनती गईं। बाहरी कारागृह से प्रारम्भ हुई यह यात्रा धीरे–धीरे अंतःकरण के उन सूक्ष्म बंधनों तक पहुँची, जहाँ राग, द्वेष, मोह, अहंकार और आसक्ति ही वास्तविक कारागृह के रूप में दिखाई देने लगे।

जैन दर्शन के कर्म–सिद्धान्त की दृष्टि से मुक्ति का अर्थ केवल बाहरी बंधनों से छुटकारा पाना नहीं, बल्कि उन कर्मबंधों से ऊपर उठना है जो आत्मा की स्वाभाविक अनंत शक्तियों को आवृत करते हैं। मानतुंग की साधना इसी आंतरिक परिवर्तन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण यात्रा के रूप में देखी जा सकती है।

इस अंतर्यात्रा में स्तुति साधना बनती है, विपत्ति आत्मबोध का अवसर बनती है और कारागृह आत्ममंथन की प्रयोगशाला। अंततः बाहरी मुक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण वह क्षण है जब साधक अपने भीतर के बंधनों को पहचानता है और आत्मस्वरूप की ओर लौटने लगता है।

अतः "कारागृह से कर्म–मुक्ति तक" केवल एक ऐतिहासिक या धार्मिक प्रसंग नहीं, बल्कि प्रत्येक साधक की संभावित यात्रा का प्रतीक है। बाह्य बंधन से आंतरिक स्वतंत्रता की ओर, अज्ञान से आत्मबोध की ओर और कर्मबंधन से मोक्षमार्ग की ओर।

प्रस्तावना–

स्वर्गों के इन्द्र भी आपके गुणों के सम्मुख नतमस्तक हैं और आज पंचमकाल की इस कर्मभूमि में बैठा यह श्रमण भी आपके वीतराग स्वरूप का आलंबन ले रहा है। मैं चमत्कार के लिए आपकी स्तुति नहीं करूँगा, मैं आत्म–जागरण के लिए आपके गुणों का चिंतन करूँगा। आपके चरित्र से प्रथमानुयोग, आपके आचरण से चरणानुयोग, आपकी कर्म–विजय से करणानुयोग और आपके शुद्ध स्वरूप से द्रव्यानुयोग का रहस्य ग्रहण करूँगा। जीव को पहचानूँगा, अजीव से भेद करूँगा आस्रव और बंध का कारण समझेंगाः संवर का पुरुषार्थ करूँगा, निर्जरा का मार्ग साहूँगा और मोक्ष को अंतिम लक्ष्य बनाऊँगा।

मेरे 48 काव्य यदि बाहर के 48 बंधनों को खोलें तो वह कथा बनेः पर यदि वे एक जीव के भीतर मिथ्यात्व, राग, द्वेष और मोह की गाँठ खोल दें– तो वही भक्तामर की वास्तविक साधना होगी।

अभिनव मानतुंग उवाच– प्रभु कर्म नहीं काटते, कर्म–मुक्त स्वरूप दिखाते हैंय मार्ग प्रभु का आलंबन देता है, चलना आत्मा को स्वयं पड़ता है। कारागृह से निकलना मुक्ति नहीं– कर्म से निकलकर स्वरूप में स्थित होना ही मोक्ष है। परंपरानुसार जब आचार्य मानतुंग स्वामी को राजाज्ञा से कारागृह में बंधन प्राप्त हुआ, तब एक वीतरागी श्रमण की दृष्टि उस बाहरी बंधन पर कहाँ रुकने वाली थी? उनके लिए लोहे की बेड़ियाँ मानो उस अनादि कर्म–बंधन का प्रत्यक्ष प्रतीक बन गई, जिससे संसार का प्रत्येक जीव बंधा हुआ है। शरीर कारागृह में था, पर आत्मा का चिंतन स्वतंत्र था। द्वार बंद थे, किंतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र का मोक्ष–द्वार खुला था। आचार्य मानतुंग द्वारा रचित 48 काव्य अपने आप में आध्यात्मिक रहस्यों का अद्भुत भंडार हैं। इन काव्यों का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक भाव गहन आध्यात्मिक अर्थ को अपने भीतर समाहित किए हुए है। इनकी रचना केवल स्तुति अथवा भक्तिभाव की अभिव्यक्ति मात्र नहीं, बल्कि आत्मा के कर्मबंधन से कर्ममुक्ति की ओर अग्रसर होने का एक आध्यात्मिक मार्गदर्शन है। जैन दर्शन की दृष्टि से प्रभु कर्मों को काटते नहीं हैं, बल्कि वे स्वयं कर्ममुक्त स्वरूप को प्रकट करने की प्रेरणा देते हैं। अतः इन काव्यों का मूल उद्देश्य बाहरी चमत्कार की अपेक्षा आत्मस्वरूप की अनुभूति तथा कर्मबंधन से मुक्ति की दिशा में साधक को प्रेरित करना है। इस अध्ययन में आचार्य मानतुंग के प्रत्येक काव्य का गहन चिंतन एवं मनन करते हुए उसे जैन दर्शन के चारों अनुयोग, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। प्रत्येक काव्य में निहित आध्यात्मिक, दार्शनिक, नैतिक एवं तात्त्विक तत्वों का विश्लेषण करते हुए चारों अनुयोगों के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार 48 काव्यों का यह अध्ययन केवल काव्यात्मक व्याख्या नहीं है, बल्कि इनके प्रत्येक अक्षर और भाव में निहित आध्यात्मिक रहस्यों को चारों अनुयोगों के माध्यम से उद्घाटित करने का प्रयास है। इसके द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि आचार्य मानतुंग की रचना भक्तिभाव के साथ–साथ आत्मदर्शन, कर्मसिद्धान्त, साधना, चारित्र और मोक्षमार्ग की गहन दार्शनिक अभिव्यक्ति भी है।

काव्य नंबर– 1

भक्तामर– प्रणत– मौलि–मणि–प्रभाणा–मुद्योतकं दलित– पाप–तमो–वितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिन–पाद– युंग युगादा– वालम्बनं भव– जले पततां जनानाम्।।

आचार्य मानतुंग स्वामी भगवान ऋषभदेव के उन पवित्र चरण–युगलों को सम्यक् भाव से नमन करते हैं, जिनके सम्मुख इन्द्रादि देवों के मुकुटों में जटित मणियों का प्रकाश भी फीका पड़ जाता है। भगवान का वीतराग स्वरूप पापरूपी अंधकार को दूर करने वाले ज्ञान–ज्योति के समान है। उनका निर्मल एवं निष्कलंक स्वरूप समस्त जीवों को आत्मकल्याण और मोक्षमार्ग की ओर प्रेरित करता है। युग के आदि में जब संसार–सागर में निमग्न जीव धर्ममार्ग से विमुख हो रहे थे, तब भगवान ऋषभदेव ने उन्हें धर्म, संयम और आत्मोद्धार का मार्ग प्रदान कर महान आलंबन दिया। उनके चरण–कमलों की शरण ही संसार–समुद्र से पार उतरने वाले जीवों के लिए सत्य, शांति और मोक्ष की दिशा का दिव्य प्रकाश बनती है।

प्रथमानुयोग

आधारः इस काव्य में प्रयुक्त 'युगादों' एवं 'आलम्बनम्' पद भगवान ऋषभदेव के युगादिदेव, प्रथम तीर्थंकर तथा धर्मतीर्थ–प्रवर्तक स्वरूप का स्पष्ट स्मरण कराते हैं। 'युगादों' पद उनके युग के आदि में धर्ममार्ग का प्रवर्तन करने वाले प्रथम पुरुष होने का बोधक है, जबकि 'आलम्बनम्' पद साधक के लिए उनके वीतराग स्वरूप को आध्यात्मिक आश्रय एवं साधना के परम आधार के रूप में प्रतिष्ठित करता है। इस प्रकार, काव्य का मूल भाव भगवान ऋषभदेव के उस दिव्य व्यक्तित्व को आलम्बन बनाकर आत्मकल्याण की दिशा में उन्मुख होने का संदेश देता है।

युगादिदेंव ऋषभं जिनेन्द्रं, संसारसिन्धोः परमावलम्बम्।
धर्मस्य तीर्थ प्रथमं प्रणम्य, वन्दे जिनेषं भवमोक्षहेतुम्।।

युगादिदेव ऋषभं जिनेन्द्रं– युग के आदि में प्रकट होने वाले, प्रथम जिनेन्द्र भगवान ऋषभदेव को।
संसारसिन्धोः परमावलम्बम्– जो जन्म–मरण रूपी संसार–सागर में जीवों के लिए परम आश्रय एवं अवलम्बन हैं।

धर्मस्य तीर्थं प्रथमं प्रणम्य– धर्मरूपी तीर्थ की प्रथम प्रवर्तना करने वाले उन भगवान को नमन करके।

वन्दे जिनेशं भवमोक्षहेतुम्– संसार–बंधन से मुक्त होने के मार्ग के हेतु, उन जिनेश्वर भगवान को मैं वंदन करता हूँ।

चरणानुयोग

''सम्यक् प्रणम्य'' तथा ''जिन–पाद–युगम्'' पद केवल बाह्य विनय अथवा शारीरिक नमन का बोध नहीं कराते, अपितु जिनेन्द्रदेव के प्रति सम्यक् श्रद्धा, विनय और जिनमार्ग में पूर्ण समर्पण की भावना को अभिव्यक्त करते हैं। चरणानुयोग की दृष्टि से जिनेन्द्रदेव के चरणों में झुकना तभी सार्थक है, जब वह हमारे जीवन के आचरण में प्रतिबिम्बित हो। प्रभु के चरणों का वंदन वस्तुतः अपने आचरण, विचार और व्यवहार को जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, संयम, तप, त्याग और वीतरागता के मार्ग के अनुरूप ढालने का संकल्प है। इस प्रकार यहाँ चरण–वंदना केवल देह का नमन न होकर जिनचर्या को जीवन में उतारने और आत्मा को जिनमार्ग की ओर उन्मुख करने का आध्यात्मिक पुरुषार्थ बन जाती है।

सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं विनीतः, संयममार्गमनसा परिपालयामि।
रागादिदोषविरतो विषदात्मभावः, चारित्रषुद्धिमधिगम्य षिवं प्रयामि।

"विनयपूर्वक जिनेंद्र भगवान के दोनों चरणों को भली–भाँति प्रणाम करके, मैं संयम के मार्ग का मन से पालन करता हूँ। राग आदि दोषों से विरक्त होकर, निर्मल आत्मभाव को धारण करता हुआ, चारित्र की शुद्धि को प्राप्त करके मोक्ष (शिव) की ओर अग्रसर होता हूँ।"

करणानुयोग

इस काव्य में प्रयुक्त ''दलित–पाप–तमो–वितानम्'' तथा ''भव–जले पततां जनानाम्'' पद कर्म–सिद्धान्त की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। करणानुयोग की दृष्टि से जीव के संसार–परिभ्रमण का मूल कारण उसका मोहनीय कर्म तथा उससे उत्पन्न राग–द्वेषादि कषाययुक्त परिणाम हैं। इन अशुद्ध परिणामों के कारण जीव निरन्तर नवीन कर्मों का आस्रव एवं बन्ध करता रहता है और परिणामस्वरूप जन्म–मरणरूपी संसार–सागर में परिभ्रमण करता है। अतः उक्त पदों में 'पाप–अन्धकार' तथा 'भवसागर' के रूपक के माध्यम से कर्मबन्ध से उत्पन्न जीव की संसारावस्था का संकेत प्राप्त होता है। साथ ही, यह भाव इस तथ्य को रेखांकित करता है कि कर्मों के क्षय अथवा निर्जरा तथा शुद्ध आत्मभाव की उपलब्धि के बिना जीव का इस भवचक्र से मुक्त होना सम्भव नहीं है।

मोहादिकर्मवषतो भवसिन्धुमग्नः, ज्ञानावरणतमसा निजबोधहीनः।
जिनपादभावमनसा परिषुद्धभावः, संवरनिर्जरणया षिवमाश्रयामि।।

जीव मोहनीय आदि कर्मों के वशीभूत होकर संसाररूपी समुद्र में डूबा हुआ है। ज्ञानावरणीय कर्म के अंधकार के कारण वह अपने वास्तविक आत्मस्वरूप और ज्ञान से अनभिज्ञ बना रहता है। किंतु जब उसका मन जिनेंद्र के चरणों की भावना में अनुरक्त होता है और उसके परिणाम शुद्ध होने लगते हैं, तब वह संवर और निर्जरा के माध्यम से कर्मों के बंधन से मुक्त होकर शिव अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने का मार्ग अपनाता है।

द्रव्यानुयोग

इस काव्य में ''जिन–पाद–युगम्'' और ''आलम्बनम्'' पद साधक को परमात्मा के शुद्ध, वीतराग एवं चेतन स्वरूप का आश्रय लेने की प्रेरणा देते हैं। जिनेन्द्र भगवान के शुद्ध स्वरूप को आलम्बन बनाकर साधक अपने निज आत्मद्रव्य के वास्तविक स्वरूप को पहचानने का प्रयास करता है। प्रभु की वीतरागता का चिंतन केवल बाह्य उपासना तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह साधक को अंतर्मुखी बनाकर अपने ही शुद्ध, ज्ञान–दर्शनमय चेतन स्वरूप की अनुभूति की ओर ले जाता है। इस प्रकार, द्रव्यानुयोग की दृष्टि से जिनेन्द्र का चिंतन परद्रव्य में आसक्ति नहीं, बल्कि निज आत्मद्रव्य की पहचान का साधन बनता है।

शुद्धोऽहमात्मदृगनन्तगुणस्वरूपः, कर्मोपधेरपि पृथक् सहजप्रकाषः।
जिनबिम्बदर्षनबलान्निजतत्त्वबोधं, प्राप्य स्वभावपदमेव समाश्रयामि।।

साधक अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करते हुए कहता है, मैं वास्तव में शुद्ध आत्मा हूँ, अनन्त गुणों से युक्त और ज्ञान–दर्शनस्वरूप हूँ। कर्मरूपी उपाधियों से मेरा वास्तविक स्वरूप पृथक् है, मेरा सहज स्वभाव प्रकाशमान चेतना है। जिनबिम्ब के दर्शन और जिनेन्द्र के वीतराग स्वरूप के चिंतन से मुझे अपने निज तत्त्व का बोध प्राप्त होता है। इस आत्मतत्त्व को पहचानकर मैं बाह्य उपाधियों का आश्रय छोड़कर अपने शुद्ध स्वभाव–पद को ही अपना आश्रय बनाता हूँ।

काव्य नं. 2

यः संस्तुतः सकल– वाङ्मय–तत्त्व–बोध– दुद्भूत–बुद्धि–पटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैजगत्–त्रितय–चित्त–हरैरूदारैः, स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्।।

इस श्लोक में "प्रथमं जिनेन्द्रम्" उस परम वीतराग जिनेन्द्र के शुद्ध, अनन्तज्ञानमय और अनन्तगुणमय स्वरूप की ओर संकेत करता है। द्रव्यानुयोग की दृष्टि से जिनेन्द्र केवल बाह्य पूज्य व्यक्तित्व नहीं, बल्कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप के आदर्श एवं प्रतिबिम्ब हैं। उनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख से युक्त सिद्ध–बुद्ध स्वरूप का चिंतन साधक को अपने निज आत्मद्रव्य की ओर उन्मुख करता है। "सकल–वाङ्मय–तत्त्व–बोधोद्भूत–बुद्धि–पटुभिः" पद यह बताता है कि जिनेन्द्र का यथार्थ स्वरूप केवल शब्द–ज्ञान से नहीं, बल्कि तत्त्व के सम्यक् बोध से ग्रहण किया जाता है। देवों द्वारा की गई स्तुति भी उसी तत्त्वबोध से उत्पन्न बुद्धि का परिणाम है। अतः यहाँ जिनेन्द्र की स्तुति का प्रयोजन बाह्य प्रशंसा मात्र नहीं, बल्कि जिनेन्द्र के वीतराग और शुद्ध चेतन स्वरूप को आलम्बन बनाकर अपने आत्मद्रव्य के शुद्ध स्वभाव की पहचान करना है। दूसरे शब्दों में, जिनको मैं स्तुति का विषय बना रहा हूँ, उनके समान शुद्ध आत्मस्वभाव मेरे निज आत्मा में भी निहित हैकृयही द्रव्यानुयोग का गहन आध्यात्मिक संकेत है।

प्रथमानुयोग

इस काव्य में प्रयुक्त ''सुरलोकनाथैः'', ''जगत्–त्रितय'' तथा ''प्रथमं जिनेन्द्रम्'' जैसे पद प्रथमानुयोग की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। ''प्रथमं जिनेन्द्रम्'' भगवान ऋषभदेव के प्रथम तीर्थंकर एवं युगादिपुरुष स्वरूप को उद्घाटित करता है। ''सुरलोकनाथैः'' पद उनके प्रति इन्द्रादि देवों की भक्ति, श्रद्धा एवं स्तुति का द्योतक है, जबकि ''जगत्–त्रितय'' उनके त्रिलोक–वंद्य एवं त्रिलोक–पूज्य स्वरूप की ओर संकेत करता है। इस प्रकार काव्य में भगवान ऋषभदेव का चरित्र केवल एक ऐतिहासिक या आध्यात्मिक महापुरुष के रूप में नहीं, अपितु त्रिलोक में पूज्य प्रथम तीर्थंकर के रूप में चित्रित हुआ है। प्रथमानुयोग की दृष्टि से यह पदावली भगवान ऋषभदेव के जीवन–चरित, युग–प्रवर्तन, तीर्थ–स्थापना तथा देवों द्वारा की गई उनकी महिमा–स्तुति का संक्षिप्त किन्तु प्रभावशाली संकेत प्रस्तुत करती है।

प्रथमं जिनेन्द्रमृषभं सुरेन्द्रैः संस्तुतं सदा।
त्रैलोक्यपूजितं देवं, वन्दे धर्मप्रवर्तकम्।।

त्रैलोक्यपूजितं देवम्" पद जैन ब्रह्माण्ड–विज्ञान की ओर संकेत करता है। भगवान का संबंध केवल किसी एक लोक या क्षेत्र तक सीमित नहीं है, बल्कि त्रिलोक की व्यवस्था और उसमें स्थित देवों द्वारा जिनेन्द्र की वंदना का वर्णन करणानुयोग के विषयों से जुड़ता है। ऋषभदेव का तीर्थंकरत्व कर्मों के क्षय और आत्मा की परम शुद्ध अवस्था का परिणाम है।

चरणानुयोग

इस काव्य के ''संस्तुतः'', ''तत्त्व–बोध'', ''उदारैः स्तोत्रै'' और ''स्तोष्येऽहमपि'' पद चरणानुयोग की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। ये पद संकेत करते हैं कि जिनेन्द्र–स्तुति मात्र वाणी का उच्चारण नहीं, बल्कि विनय, संयम, सदाचार और आत्मशुद्धि से युक्त साधना है। जिनेन्द्र भगवान के गुणों का स्तवन तभी सार्थक होता है, जब साधक उनके उपदेशित मार्ग को अपने आचरण में धारण करे। अतः चरणानुयोग की दृष्टि से यह काव्य बाह्य स्तुति के साथ–साथ अन्तरंग शुद्धि, विनयभाव और संयममय जीवन की प्रेरणा प्रदान करता है।

विनयेन जिनं स्तौमि, संयमेन विषोधये।
रागद्वेषौ परित्यज्य, चारित्रं शुद्धिमाप्नुयात्।।

इस श्लोक में चरणानुयोग की दृष्टि से साधक के आचरण–शुद्धि और आत्मसंयम को जिन–स्तुति का आधार बताया गया है।

"विनयेन जिनं स्तौमि"– विनयपूर्वक जिनेन्द्र की स्तुति करना। यहाँ विनय केवल वाणी का सम्मान नहीं, बल्कि अहंकार का त्याग और गुरु–जिन के प्रति समर्पित भाव है।

"संयमेन विशोधये"– संयम के द्वारा अपने जीवन और आचरण को विशुद्ध करना। इन्द्रियों, मन और वचन पर नियंत्रण चरणानुयोग का प्रमुख आधार है।

"रागद्वेषौ परित्यज्य"– राग और द्वेष का त्याग करना। ये दोनों आत्मा को अशुद्ध करने वाले कषाय हैंय इनके क्षय–उपशम की दिशा में बढ़ना सम्यक् चारित्र का लक्षण है।

"चारित्रं शुद्धिमाप्नुयात्"– राग–द्वेष से मुक्त होकर आचरण को शुद्ध बनाना। वास्तविक जिन–भक्ति तभी सार्थक होती है, जब वह जीवन में संयम, विनय और सदाचार के रूप में प्रकट हो।

अतः चरणानुयोग की दृष्टि से यह श्लोक स्पष्ट करता है कि जिनेन्द्र की सच्ची स्तुति केवल शब्दों से नहीं, बल्कि विनयपूर्ण व्यवहार, संयमित जीवन, राग–द्वेष के परित्याग और शुद्ध चारित्र के पालन से पूर्ण होती है।

करणानुयोग

इस काव्य के ''सकल–वाङ्मय–तत्त्व–बोधात्'', ''उद्भूत–बुद्धि–पटुभिः'' और ''प्रथमं जिनेन्द्रम्'' पद करणानुयोग की दृष्टि से ज्ञान की पूर्णता–अपूर्णता तथा ज्ञानावरणीय कर्म के सिद्धान्त को उद्घाटित करते हैं। जीव का ज्ञान कर्मावरण के कारण सीमित और क्रमशः विकसित होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान की शक्ति में न्यूनाधिकता रहती हैय अतः सामान्य जीव का ज्ञान परिमित होता है, जबकि जिनेन्द्र भगवान घातिया कर्मों के पूर्ण क्षय से अनन्तज्ञानस्वरूप हो जाते हैं।

''सकल–वाङ्मय–तत्त्व–बोधात्'' पद समस्त आगम, पदार्थों और तत्त्वों के यथार्थ बोध की ओर संकेत करता है। करणानुयोग की दृष्टि से ज्ञान की पूर्णता केवल शब्दों के व्यापक ज्ञान में नहीं, बल्कि समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के यथार्थ स्वरूप के पूर्ण अवबोध में निहित है। ''उद्भूत–बुद्धि–पटुभिः'' सीमित जीव की विकसित होती हुई बुद्धि और ज्ञान–क्षमता को सूचित करता है, जो कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार क्रमशः तीव्र एवं विशद होती जाती है।

इसके विपरीत ''प्रथमं जिनेन्द्रम्'' उस पूर्ण ज्ञानस्वरूप जिनेन्द्र की ओर संकेत करता है, जिनका ज्ञान किसी कर्मावरण से बाधित नहीं है। इसलिए सीमित ज्ञान वाले जीव द्वारा अनन्तगुणी जिनेन्द्र के स्वरूप का पूर्ण वर्णन करना संभव नहींय वाणी और बुद्धि जहाँ तक पहुँच सकती हैं, वहाँ तक ही उनका गुणानुवाद किया जा सकता है। इस प्रकार यह काव्य ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से ज्ञान की अपूर्णता से पूर्णता की ओर होने वाली आध्यात्मिक यात्रा तथा जिनेन्द्र के अनन्तज्ञान की महिमा को करणानुयोग की दृष्टि से अभिव्यक्त करता है।

ज्ञानावरणकर्मेण, ज्ञानं जीवस्य बाधितम्।
कर्मक्षये प्रबुद्धात्मा, केवलज्ञानमष्नुते।।

ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव का स्वाभाविक ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हो पाता। यह कर्म जीव के ज्ञान को आवृत अथवा बाधित करता है, जिसके कारण जीव सीमित ज्ञान के साथ संसार में रहता है। जब तप, संयम, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र आदि के द्वारा कर्मों का क्षय होता है, तब ज्ञानावरणीय कर्म का पूर्ण क्षय होने पर आत्मा का अनंत ज्ञान प्रकट हो जाता है। यही अवस्था केवलज्ञान कहलाती है।

करणानुयोग की दृष्टि सेः
''ज्ञानावरणकर्मेण''– ज्ञानावरणीय कर्म का स्पष्ट निर्देश है।
''ज्ञानं जीवस्य बाधितम्'' – कर्म के उदय से जीव के अनंत ज्ञान की अभिव्यक्ति बाधित रहती है।

''कर्मक्षये'' – कर्मों के क्षय, विशेषतः ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय की ओर संकेत करता है।
''प्रबुद्धात्मा'' – कर्मावरण से मुक्त होकर आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान के पूर्ण प्राकट्य को दर्शाता है।
''केवलज्ञानमष्नुते'' – ज्ञानावरणीय कर्म के पूर्ण क्षय के पश्चात् जीव को अनंत और पूर्ण केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

अतः यह काव्य ज्ञान की अपूर्णता से पूर्णता की ओर जीव की आध्यात्मिक यात्रा को दर्शाता है– कर्म के आवरण में सीमित ज्ञान और कर्मक्षय के पश्चात् अनंत, अखंड एवं पूर्ण केवलज्ञान।

द्रव्यानुयोग

इस काव्य के ''तत्त्व–बोध'', ''बुद्धि–पटुभिः'' और ''प्रथमं जिनेन्द्रम्'' पद द्रव्यानुयोग की दृष्टि से क्रमशः तत्त्व के यथार्थ ज्ञान, आत्मा के ज्ञानस्वरूप तथा पूर्ण शुद्ध परमात्मदशा की ओर संकेत करते हैं। आत्मा स्वभावतः ज्ञाता–द्रष्टा और अनंतज्ञानमय है, किंतु कर्मावरण के कारण उसके ज्ञान का पूर्ण प्रकाश प्रकट नहीं हो पाता। जिनेन्द्र के अनंत गुणों का चिंतन करते हुए साधक अंततः बाह्य आराध्य से अपने आत्मद्रव्य के शुद्ध, अनंत और ज्ञानमय स्वरूप की ओर उन्मुख होता है। अतः प्रभु के अनंत गुणों की स्तुति केवल पर–गुणगान न रहकर अपने आत्मस्वरूप की पहचान और उसकी परम शुद्ध अवस्था की अनुभूति का माध्यम बन जाती है– यही इस काव्य का द्रव्यानुयोगात्मक आध्यात्म है।

चैतन्यं ज्ञानरूपोऽहम्, आत्मा शुद्धः स्वभावतः।
जिनरूपं समालोक्य, स्वस्वरूपं विभावये।।

इस काव्य के ''चैतन्यं'', ''ज्ञानरूपोऽहम्'', ''आत्मा शुद्धः स्वभावतः'' और ''स्वस्वरूपं विभावये'' पद आत्मद्रव्य के शुद्ध, चौतन्य एवं ज्ञानमय स्वभाव की ओर संकेत करते हैं। द्रव्यानुयोग की दृष्टि से आत्मा अपने मूल स्वभाव में शुद्ध, चेतन और ज्ञानस्वरूप हैय कर्मों के कारण उसकी यह शुद्धता आवृत एवं विकृत प्रतीत होती है। ''जिनरूपं समालोक्य'' का आशय बाह्य रूप की मात्र प्रशंसा न होकर जिनेन्द्र के वीतराग, सर्वज्ञ एवं शुद्ध स्वरूप का अवलोकन करके उसी शुद्ध आत्मस्वभाव को अपने भीतर पहचानना है। अतः जिनेन्द्र का दर्शन अंततः पर–द्रव्य की ओर देखने के बजाय अपने आत्मद्रव्य के वास्तविक स्वरूप का भान कराने वाला माध्यम बनता है। जिनका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो चुका है, उनके स्वरूप का चिंतन करते हुए साधक अपने भीतर स्थित ज्ञान, दर्शन और चौतन्य की शुद्ध सत्ता का अनुभव करता है। यही द्रव्यानुयोग का मूल उद्देश्य है– आत्मा को उसके निज शुद्ध स्वभाव में जानना, मानना और अनुभव करना।

काव्य नंबर – 3
बुद्ध्या विनापि विबुधार्चित–पाद–पीठ, स्तोतुं समुद्यत–मतिर्विगत–त्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जल–संस्थितमिन्दु–बिम्ब–मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्।।

आचार्य मानतुंग स्वामी कहते हैं– हे जिनेन्द्र! आपकी चरण–पीठ को इन्द्रादि देव भी पूजते हैं, फिर भी मेरे पास वैसी प्रखर बुद्धि नहीं है। इसके बावजूद आपके गुणों का स्तवन करने के लिए मेरा मन उत्सुक हो उठा है और मुझे अपनी अल्पज्ञता पर लज्जा भी नहीं रही।

जैसे कोई व्यक्ति जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को देखकर, उसे पकड़ने की बाल–सुलभ इच्छा करने वाले बालक को छोड़कर, स्वयं उस चन्द्र–बिम्ब को सहसा पकड़ने का प्रयास क्यों करेगा? उसी प्रकार आपकी अनंत महिमा का वर्णन करना मेरे जैसे अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए अत्यंत कठिन है, फिर भी भक्ति से प्रेरित होकर मैं आपके गुणों का स्तवन करने के लिए उद्यत हुआ हूँ।

प्रथमानुयोग

इस काव्य के "विबुधार्चित–पाद–पीठ" पद में भगवान ऋषभदेव के पावन चरणों की देवों द्वारा की गई अर्चना तथा उनके देवाधिदेव स्वरूप का सुंदर चित्रण निहित है। "इन्दु–बिम्ब" पद भगवान की निर्मल, शीतल और कलंकरहित महिमा का प्रतीक बनकर उनके दिव्य व्यक्तित्व की ओर संकेत करता है। प्रथमानुयोग की दृष्टि से

ये पद भगवान ऋषभदेव के तीर्थंकर चरित्र, देवों द्वारा पूजित महापुरुषत्व, देवाधिदेव स्वरूप तथा पंचकल्याणक की दिव्यता का स्मरण कराते हैं। देवों द्वारा जिनेन्द्र के चरणों की वंदना उनके असाधारण आध्यात्मिक वैभव और त्रिलोक–वंदनीयता को प्रकट करती है। इस प्रकार काव्यकार बाह्य रूप से भगवान की स्तुति करते हुए उनके दिव्य चरित्र और कल्याणकारी जीवन–प्रसंगों का स्मरण कर साधक के भीतर जिनभक्ति एवं आत्मकल्याण की भावना को जागृत करते हैं।

देवेन्द्रपूजितं देवं, ऋषभं प्रथमं जिनम्।
पञ्चकल्याणकं वन्दे, वीतरागं जगद्गुरूम्।।

इस काव्य में ''देवेन्द्रपूजितं देवं'', ''ऋषभं प्रथमं जिनम्'', ''पञ्चकल्याणकं'' और ''जगद्गुरूम्'' पद भगवान ऋषभदेव के दिव्य चरित्र, प्रथम तीर्थंकरत्व और देवों द्वारा की गई पूजा का स्मरण कराते हैं। भगवान ऋषभदेव को देवों के इन्द्रों द्वारा पूजित देवाधिदेव तथा वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर के रूप में वंदन किया गया है। उनके जीवन में घटित गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और मोक्षकृइन पंचकल्याणकों की पवित्रता का स्मरण करते हुए कवि उनके वीतराग एवं जगद्गुरु स्वरूप को नमन करता है।

प्रथमानुयोग की दृष्टि से यह श्लोक भगवान ऋषभदेव के जीवन–चरित्र, पंचकल्याणक, तीर्थंकर पद, देवों द्वारा पूज्यता और मोक्षगमन की गौरवपूर्ण परंपरा का सुंदर निरूपण करता है।

चरणानुयोग

इस काव्य के ''विबुधार्चित–पाद–पीठ'', ''स्तोतुं समुद्यत–मति'' और ''बालम्'' पद चरणानुयोग की दृष्टि से विनय, अहंकार–त्याग तथा शुद्ध आचरण की प्रेरणा प्रदान करते हैं। जिनेन्द्रदेव के चरणों में नमन और स्तवन तभी सार्थक है, जब साधक बाह्य विनय के साथ अपने भीतर के अहंकार, प्रमाद और विकारों का त्याग करे तथा अपने जीवन को संयम, सदाचार और जिनवाणी के अनुरूप आचरण की दिशा में प्रवृत्त करे। इस प्रकार जिन–चरणों की स्तुति केवल वाणी की अभिव्यक्ति न रहकर जीवन को जिनमार्ग में रूपांतरित करने का साधन बन जाती है।

विनयेन जिनं वन्दे, संयमेन विशोधये।
रागद्वेषौ परित्यज्य, चारित्रे मन आदधे।।

इस काव्य के "विनयेन", "संयमेन", "रागद्वेषौ परित्यज्य" और "चारित्रे मन आदधे" पद चरणानुयोग की दृष्टि से साधक के सम्यक् आचरण, आत्मसंयम और चारित्र–शुद्धि की प्रेरणा देते हैं। जिनेन्द्रदेव की वंदना केवल बाह्य नमस्कार तक सीमित न रहकर विनय, संयम और राग–द्वेष के परित्याग में परिणत होनी चाहिए। जब साधक अपने मन, वचन और काय को संयमित करके राग–द्वेष से दूर करता है और शुद्ध चारित्र में मन लगाता है, तभी उसकी जिन–वंदना वास्तविक अर्थ में सार्थक होती है।

करणानुयोग

इस काव्य के "बुद्ध्या विनापि", "समुद्यत–मतिः" और "इन्दु–बिम्बम्" पद करणानुयोग की दृष्टि से जीव की ज्ञानशक्ति, ज्ञानावरणीय कर्म तथा मोहनीय कर्म के प्रभाव का सूक्ष्म संकेत करते हैं। "बुद्ध्या विनापि" सीमित ज्ञान और ज्ञानावरण के कारण आत्मस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति न हो पाने को सूचित करता है, जबकि "समुद्यत–मतिः" साधक की ज्ञानप्राप्ति की ओर उन्मुख पुरुषार्थशील बुद्धि का द्योतक है। "इन्दु–बिम्बम्" निर्मल एवं पूर्ण आत्मज्ञान का प्रतीक है, जो कर्मावरणों के क्षय से प्रकट होता है। करणानुयोग के अनुसार आत्मा स्वभावतः अनन्तज्ञानमयी है, किंतु ज्ञानावरणीय एवं मोहनीय कर्मों के उदय से उसकी ज्ञानशक्ति पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं हो पाती। कर्मों के क्षय–उपशम के साथ ज्ञान की अभिव्यक्ति क्रमशः निर्मल होती जाती है और अंततः केवलज्ञान के रूप में उसकी पूर्णता प्रकट होती है।

"ज्ञानावरणकर्मेण, बुद्धिर्भवति सीमिता।
मोहक्षये विशुद्धात्मा, ज्ञानज्योतिः प्रकाशते।।"

इस काव्य के "ज्ञानावरणकर्मेण", "बुद्धिर्भवति सीमिता", "मोहक्षये" और "ज्ञानज्योतिः प्रकाशते" पद करणानुयोग की दृष्टि से आत्मा के ज्ञान की आवरण–अवस्था और उसके क्रमशः विशुद्ध होने की प्रक्रिया को प्रकट करते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव की ज्ञानशक्ति पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पाती और उसकी बुद्धि सीमित दिखाई देती है। जब मोहनीय कर्म का क्षय होता है, तब आत्मा की विशुद्धता बढ़ती है और ज्ञान का प्रकाश अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। अंततः समस्त घातिया कर्मों के क्षय से आत्मा में केवलज्ञान प्रकट होता है।

द्रव्यानुयोग

इस काव्य के "बुद्ध्या विनापि" और "जल–संस्थितमिन्दु–बिम्बम्" पद द्रव्यानुयोग की दृष्टि से मूल और प्रतिबिंब, स्व और पर तथा आत्मा और शरीर के भेद–विज्ञान की ओर संकेत करते हैं। जल में दिखाई देने वाला चंद्रमा का प्रतिबिंब चंद्रमा का वास्तविक स्वरूप नहीं हैय उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ और उनकी विविध अवस्थाएँ आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। आत्मा चेतन, ज्ञाता–द्रष्टा और ज्ञानमय द्रव्य है, जबकि शरीर पौद्गलिक एवं परद्रव्य है। अतः साधक को शरीरादि परद्रव्यों से ममत्व का त्याग कर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का भेद–विज्ञान करना चाहिए। यही द्रव्यानुयोग की दृष्टि से इस पद का गहन आध्यात्मिक संकेत है।

देहोऽन्योऽहमहं शुद्धः, ज्ञानदर्शनलक्षणः।
बिम्बं त्यक्त्वा यथा चन्द्र, स्वात्मानं भावये तथा।।

यह शरीर मुझसे भिन्न है– मैं शरीर नहीं हूँ। मैं शुद्ध आत्मा हूँ, जिसका लक्षण ज्ञान और दर्शन है। जिस प्रकार चंद्रमा अपने जल में दिखाई देने वाले प्रतिबिंब से भिन्न होता है, उसी प्रकार मैं शरीर और उसकी अवस्थाओं से भिन्न अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का चिंतन करता हूँ। इस काव्य के "देहोऽन्योऽहम्", "अहं शुद्धः", "ज्ञानदर्शनलक्षणः", "बिम्बं त्यक्त्वा" और "स्वात्मानं भावये" पद द्रव्यानुयोग के मूल सिद्धांत स्व–पर भेदविज्ञान की ओर संकेत करते हैं। शरीर पुद्गलद्रव्य है और आत्मा जीवद्रव्यय दोनों का स्वरूप स्वतंत्र एवं भिन्न है। आत्मा का वास्तविक स्वभाव ज्ञान–दर्शनमय है, जबकि देह जड़ पुद्गल है। "बिम्बं त्यक्त्वा यथा चन्द्र" का दृ ष्टांत विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। जल में दिखाई देने वाला चंद्रमा का प्रतिबिंब वास्तविक चंद्रमा नहीं होताय उसी प्रकार शरीर, रूप, अवस्था, सुख–दुःख आदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। साधक को देहादि परद्रव्यों से ममत्व हटाकर "मैं शुद्ध ज्ञान–दर्शनस्वरूप आत्मा हूँ"कृइस स्वानुभूति में स्थित होना चाहिए। यही द्रव्यानुयोग की दृष्टि से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिंतन और भेद–विज्ञान है।

निष्कर्ष–

परंपरानुसार जब आचार्य मानतुंग स्वामी को राजाज्ञा से कारागृह में बंधन प्राप्त हुआ, तब एक वीतरागी श्रमण की दृष्टि उस बाहरी बंधन पर कहाँ रुकने वाली थी? उनके लिए लोहे की बेड़ियाँ मानो उस अनादि कर्म–बंधन का प्रत्यक्ष प्रतीक बन गई, जिससे संसार का प्रत्येक जीव बंधा हुआ है। शरीर कारागृह में था, पर आत्मा का चिंतन स्वतंत्र था। द्वार बंद थे, किंतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र का मोक्ष–द्वार खुला था। यह कारागृह मेरे शरीर को बाँध सकता है, आत्मा को नहीं। वास्तविक कारागृह तो कर्म है और वास्तविक मुक्ति कर्म–क्षय है। ऐसे क्षण में मानतुंग की चेतना प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेव के चरणों में पहुँची होगी। कर्मभूमि के प्रारंभिक काल में भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थ अवस्था में मनुष्य को जीवन–निर्वाह और सामाजिक व्यवस्था का मार्ग दिखायाः और तीर्थकर अवस्था में वीतराग–सर्वज्ञ होकर धर्मतीर्थ के प्रवर्तन द्वारा संसार से पार होने का मार्ग प्रकाशित किया। आपने कर्मभूमि में जीवन के पुरुषार्थ की दिशा दी और तीर्थकर अवस्था में आत्म–पुरुषार्थ का पथ प्रकाशित किया। संसार में रहते हुए व्यवस्था कैसे चले, इसका मार्ग भी आपके जीवन से मिला और संसार से ऊपर उठकर सिद्धत्व कैसे प्राप्त हो, उसका मोक्षमार्ग भी आपके तीर्थ से प्रकाशित हुआ।

पंचमकाल में आज भी जीव कर्मभूमि में है। वह मन–वचन–काय की प्रवृत्तियों और कषायों के निमित्त से कर्मों का आस्रव करता है– कषाययुक्त योग से कर्म–बंध होता है। सम्यग्दर्शन, संयम, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि से संवर और तप से निर्जरा होती है। जब समस्त घातिया–अघातिया कर्मों का पूर्ण क्षय होता है. तब आत्मा मोक्ष को प्राप्त होती है। अतः करणानुयोग हमें यह समझाता है कि आत्मा में ज्ञान का अभाव नहीं है, कर्मावरण के कारण उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति बाधित है। कर्मों के क्षय के साथ ज्ञानज्योति क्रमशः प्रकाशित होती

हुई पूर्ण ज्ञानस्वरूप अवस्था को प्राप्त होती है। तब भक्तामर की कारागृह–कथा का आध्यात्मिक अर्थ अत्यंत गहरा हो जाता है। एक ओर राजा का कारागृह था, दूसरी ओर संसार का कर्म–कारागृह। एक ओर लोहे की बेड़ी थी, दूसरी ओर राग–द्वेष–मोह की बेड़ी। एक ओर बाहर निकलने का द्वार था, दूसरी ओर मोक्ष का द्वार। मानतुंग ने बाहर के द्वार से पहले भीतर का द्वार खोजा। और शायद इसीलिए प्रत्येक काव्य के साथ बाहर का बंधन खुलने की परंपरागत कथा हमें भीतर के एक और संदेश की ओर संकेत करती है– काव्य–काव्य पर ताला नहीं, दृष्टि खुल रही थी, बेड़ी नहीं, कर्म–बंधन का रहस्य खुल रहा था।

संदर्भ–

1. तत्वार्थसूत्र उमा स्वामी 4/23
2. पुरूषार्थसिद्धी प्राय 117
3. रत्नकाण्ड श्रावका 4/23
4. मरण कण्डिका 23
5. धवला ग्रन्थ 3/23/13/1
6. समयसार 165
7. रयणसार 9
8. त्योलपरणती 3/27